संत कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि

आलीना ख़लग़ाथ्यान (ARMENIA)
शोधार्थी, हिंदी विभाग, अंग्रेज़ी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद
मोबाईल: +918977167953
Whatsapp: +37493388635
ई–मेल: alinakhlghatyan25@gmail.com

शोध सारांश

दुनिया में अनेक दार्शनिक मत प्रचलित हैं, जो मूलतः उस ज्ञान, उस परम सत्य की खोज करते हैं, जिसे ब्रह्म कहलाते हैं । दर्शन के मूलाधार प्रश्न यही हुआ करता है कि मनुष्य क्यों पैदा हुआ है? इसके पीछे क्या उद्देश्य है एवं मनुष्य का ब्रह्माण्ड से किस तरह संबंध है? जिस प्रकार भारत में भाषाओं एवं संस्कृतियों का वैविध्य है, ठीक उसी प्रकार भारतीय धर्म और दार्शनिक मत भी बहुआयामी हैं । संभवत: दुनिया के किसी अन्य देश में दार्शनिक मतों के इतने विविध रूप देखने को नहीं मिलेंगे जितने भारत में विद्यमान हैं । सदियों से भारतीय दर्शन तथा धार्मिक रुझान ने सामाजिक जीवन के साथ–साथ साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र को भी गहराई से प्रभावित किया है । निम्न आलेख का उद्देश्य है मध्यकालीन निर्गुण भक्ति काव्यधारा की संत कविता या ज्ञानाश्रय परंपरा की दार्शनिक पृष्ठभूमि को उजागर करना एवं संत कविता पर दार्शनिक मतों के प्रभाव को दृष्टिगोचर करने का प्रयास करना ।

बीज शब्द: संत कविता, दर्शन, अद्वैतवाद, माया, जीव, आत्मा।

मूल शोध

मनुष्य दुनिया के अन्य प्राणियों से सर्वप्रथम अपनी भाषा और चैतन्य से ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । इसलिए स्वाभाविक है कि अपने अस्तित्व के आदिकाल से ही मनुष्य ऐसे प्रश्नों का उत्तर ढूंढने में स्वयं को डूबाता है, जैसे ईश्वर कौन है? क्या ईश्वर वास्तव में है या नहीं? यदि है, तो किस रूप में विद्यमान है और यदि नहीं है तो इस सृष्टि का निर्माता कौन है? ईश्वर और मनुष्य का संबंध किस प्रकार का है?

सहस्राब्दियों से ये प्रश्न अनेक दार्शनिकों, विद्वानों, चिंतकों, ऋषि–मुनियों के चित्त में उभरा हैं तथा उन्होंने अपने–अपने मतानुसार इनका उत्तर खोजने का प्रयास किया है एवं अपने तर्क में बद्ध करके उन विचारों को दर्शाया हैं । परंतु ऐसे भी नहीं कि हर मत सर्वसम्मति से अपनाया गया है । हर तर्क के साथ एक वितर्क भी प्रस्तुत हुआ है । हर दार्शनिक मत विवादास्पद हो गया है, जिसने अन्य दार्शनिकों को अपने तर्क के अनुसार विवेचन करने एवं नया दार्शनिक मत को स्थापित करने की चुनौती दी है । यही कारण है कि भारतवर्ष में हमें इतने सारे दार्शनिक मतों जैसे बौद्ध और जैन मत, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैत आदि की विविधता दिखाई देती है, चाहे वह मत नास्तिक प्रवृत्ति के हों या आस्तिक ।

यहाँ प्रश्न यह खड़ा हो जाता है कि दार्शनिक मतों का संबंध साहित्य से कैसे होता है? क्या साहित्य अपनेआप में एक दर्शन है? दार्शनिक प्रवृत्तियों या मतों का साहित्य से परस्पर एवं घनिष्ठ संबंध है । जहाँ–जहाँ दार्शनिक मत का प्रतिपादन हो रहा है, वहाँ –वहाँ इसको सहज एवं सरल ढंग से लोगों और जनजातियों तक पहुँचाने का कर्तव्य साहित्य अपनी जिम्मेदारी में लेता है । यही कारण है कि साहित्य को विश्लेषित करने के रास्ते में हमें निश्चय ही इसके पीछे किसी न किसी दार्शनिक मत का प्रभाव अवश्य देखने को मिलता है ।

अद्वैत दर्शन

मध्यकाल में भारतीय लोगों का झुकाव ईश्वर भक्ति पर केंद्रित होने लगा, इसके पीछे विद्वानों की राय विवादास्पद है । कुछ विद्वानों, जैसे इतिहासकार और साहित्यकार हजारी प्रसाद द्विवेदी का यही मत था कि भक्ति का उदय द्रविड़ों से हुआ है । पाश्चात्य विद्वान जॉर्ज ग्रियर्सन ने भक्ति का विकास ईसाइयों के प्रभाव से माना।[i] इतिहासकार रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार भारत में मुसलमानों के आक्रमण से एवं इसके पूर्व के युद्धों की स्थिति की वजह से ही भारत की निराश और हताश जनता में सहज रूप से ईश्वर की भक्ति में सांत्वना एवं मोक्ष पाने की प्रवृत्ति दिखने लगी।[i] [i] उल्लेखनीय है कि जितना वैविध्य भारत में हर चीजों में देखने को मिलता है, इससे भक्ति भी अछूती नहीं रही। मध्यकाल में भक्ति के कई भेद प्रचलित हुए, जैसे निर्गुण एवं निराकार ईश्वर की भक्ति, सगुण भक्ति, भक्ति जिसका आधार ज्ञान हो एवं भक्ति जहाँ ईश्वर के साथ जीव के मिलने और एक होने का मुख्य आधार प्रेम हो। इन सभी को दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषित करने से ज्ञात होता है कि इनके पीछे एक महत्वपूर्ण बात भारतीय दार्शनिक मत है । भक्तिकाल

की ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवियों की रचनाओं को गहराई से विश्लेषित करने से हमारे सामने इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि सहज रूप से उभर आती है तथा जिन प्रवृत्तियों और विशेषताओं को संत कविताएँ प्रदर्शित करती हैं, उन्हें आसानी से या नैसर्गिक रूप से भारतीय अद्वैतवाद दर्शन में हम देख सकते हैं ।

अद्वैतवाद के शाब्दिक अर्थ को यदि विश्लेषित किया जाए तो कहा जा सकता है: जिसका दो नहीं, केवल एक ही है । जैसे ऊपर उल्लेख किया गया था, दार्शनिकों, ऋषियों की मुख्य साधना यही हुआ करती थी कि वे जीव और परमात्मा के संबंध को स्थापित करें एवं उस परम रास्ते को दर्शाने का प्रयास करें, जिसके माध्यम से जीव और आत्मा का मिलन हो पाए, जिससे जीव परमात्मा में फिर से विलीन हो सके। आठवीं शताब्दी के भारतीय महान दार्शनिकों में से आदि शंकराचार्य ने उस सत्य की खोज में अद्वैतवाद दार्शनिक मत का प्रतिपादन अपने 'शंकरभाष्य' पुस्तक में किया जो कि ब्रह्मसूत्र पर ही आधारित था । शंकराचार्य ने अपने मत को भारत के दो नास्तिक या अनीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन मतों के विरोध में स्थापित किया। बौद्ध और जैन धर्म उस समय राजधर्म थे और मुख्यतः अहिंसा पर ही बल देते थे। राजधर्म होने के परिणामस्वरूप राजाओं ने सेना होने की आवश्यकता को नकार कर दिया। फलस्वरूप देश कमजोर बनने लगा और उसी समय शंकराचार्य पूरे देश को फिर एक ही सूत्र में बांधने एवं इसे मजबूत बनाने के लिए भारतीय सनातन धर्म का पुनरुत्थान करने का प्रयास करने लगे। इसीलिए कहा भी जाता है कि श्री शंकराचार्य से ही सनातन हिंदू धर्म को ज़िंदा रखने का काम आरंभ हो गया था ।

शंकराचार्य ने सनातन धर्म की प्रतिष्ठा के लिए भारत के चार क्षेत्रों में चार मठ स्थापित किए और उनकी ज़िम्मेदारी अपने चार प्रमुख शिष्यों को सोंप दी। उन्होंने ये चार मठ देश के उत्तर, दक्षिण, पूर्व एवं पश्चिम में स्थापित किए । इसके पीछे न केवल देश को मजबूत रखने की सोच थी, बल्कि पूरे देश में अपने मत को फैलाने का उद्देश्य भी निहित था ।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद दार्शनिक मत का मुख्य बिंदु इसी में है कि उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है । यहाँ से ही उनके मत का नाम भी प्रकट होता है कि ब्रह्म केवल 'एक' ही है । उनके अनुसार वही ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अद्वितीय और सर्वव्यापक है । उन्होंने ब्रह्म को ही सृष्टि का निर्माता माना है । शंकराचार्य के दार्शनिक मत में तीन महत्वपूर्ण तत्व उल्लेखनीय हैं । ये हैं जीव, आत्मा और माया। शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म यानी कि आत्मा एक ही तत्व है परन्तु अविद्या जिसे वह माया कहते हैं, इसके आवृत्ति होने के कारण जीव अपने को ब्रह्म से पृथक समझने लगता है । माया जो अज्ञान है, जो

अविद्या है, इसके नष्ट होने के बाद ही जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है, ब्रह्म में मिलता है । अर्थात उनमें कोई भी भेद नहीं रहता है ।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद दर्शन के मूल आधारों में से एक "ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या"[iii] सूत्र है, जो ब्रह्मसूत्र में लिखा है । शंकराचार्य जगत को इसलिए मिथ्या माना है क्योंकि उनके अनुसार वह कुछ ही समय के लिए है, वह नाशवान है । जगत में व्याप्त सुख और संपत्ति सब माया है । माया ब्रह्म और जीव के बीच में आवरण है । यह जगत मिथ्या है । वह सत्य नहीं हो सकता क्योंकि नाशवान है । जबकि ईश्वर, जो आत्मा है, जो परम सत्ता है, वह सर्वव्यापक है, वह अनंत है, कभी खत्म नहीं होता। ब्रह्म अदृश्य है, अनंत है । शंकराचार्य के अद्वैत्वाद के अनुसार जीव अज्ञान के कारण ही ब्रह्म या आत्मा से दूर हो जाता है और स्वयं को भिन्न समझता है । परन्तु जिस समय जीव अविद्या या माया से मुक्त हो जाता है अर्थात् ज्ञान प्राप्त करता है उसी समय वह ब्रह्म हो जाता है । अद्वैत्वाद दर्शन की इस मुख्य विचारबिंदु को भक्तिकालीन ज्ञानाश्रयी संत कविताओं में प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है एवं यह भी कहा जा सकता है कि उन कविताओं में अद्वैतवाद दर्शन की मुख्य प्रवृत्तियाँ ही प्रतिपादित हो गयी हैं ।

संत कविताओं में अद्वैतवाद दर्शन

जहाँ–जहाँ शंकराचार्य के अद्वैतवाद दार्शनिक मत के मूलाधार ज्ञान और विद्या के माध्यम से ब्रह्म को पाने की बात की गई है, वहाँ–वहाँ हमें इस मत का प्रतिबिंब भक्तिकालीन साहित्य की निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवियों की रचनाओं में गोचर रूप से देखने को मिलता है । इस बात का प्रमाण भक्तिकाल की निर्गुण काव्यधारा के महान संत कवियों में से कबीर की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है । उनके अनेक दोहे, चौपाइयाँ इस बात को दोहराते हैं कि जीव और आत्मा एक ही तत्व हैं, परन्तु माया, जो कि अज्ञान, अविद्या का प्रतीक है, इसके कारण ही जीव और आत्मा एक दूसरे से अलग हो गए हैं और जीव स्वयं को ईश्वर से पृथक मानते हैं । जैसे संत कबीर ने निम्न उक्ति में बहुत ही सुंदर दर्शाया है–

जल में कुंभ, कुंभ में जल है भीतर बाहर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कहौ गियानी।।[iv]

यहाँ तीन मुख्य तत्व बिंबात्मक रूप से देखने को मिलते हैं । जहाँ कुंभ में जल एवं कुंभ से बाहर जल दोनों जीव और आत्मा को दर्शाते हैं और कुंभ वही माया है, जिसने उन दोनों के बीच एक दीवार खड़ी की है । वही कुंभ अज्ञान है, अविद्या है । कुंभ माया का प्रतीक है और जल जीव एवं आत्मा का

प्रतीक है । माया के बाहर और भीतर एक ही तत्व जल है जो जीव भी है और जो आत्मा भी है परंतु माया जो अज्ञान का रूप है उन दोनों को मिलने नहीं देती है । जब कुंभ टूट जाता है यानी अविद्या खत्म हो जाता है तथा जीव को ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, केवल तब ही जीव परमात्मा से मिलता है और जीव को ईश्वर प्राप्ति हो जाती है ।

महाकवि कबीर के अन्य दोहे भी हैं, जिनसे उनका अद्वैतवाद दर्शन से प्रेरणा स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है । जहाँ शंकराचार्य माया को पाप मानते हैं, जिसने परमात्मा और जीव को अलग कर दिया, वहाँ साहित्य में उस बात की प्रतिध्वनि कबीर की निम्न पंक्तियों में गूंज उठती है–

कबीर माया पापणीं, हरि सूँ करे हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम।।[४]

अर्थात् कबीर माया को अपराधी मानते हैं जो मनुष्य के मुख को अज्ञान की कड़ियों में बंद कर उन्हें परमात्मा का नाम लेने से वंचित कर देता है, परमात्मा से जीव को अलग कर देता है । यहाँ निर्गुण संत कवि कबीर की रचनाओं में शंकराचार्य के दार्शनिक मत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, दोनों माया को अविद्या, अज्ञान के प्रतीक दर्शाते हैं, जो जीव और आत्मा के बीच दुष्कर दीवार खड़ा कर देती है ।

संत कविताओं की अद्वैतवाद दार्शनिक आधार की दृष्टि से इन्हें मुख्यतः तीन स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है । सर्वप्रथम जीव और आत्मा के एक ही तत्व होने की बात दृष्टिगोचर है, दूसरी बात माया की अज्ञानता का प्रतीक होना, जो जीव और आत्मा के बीच भेद पैदा करती है एवं तीसरी, आत्मा के निर्गुण एवं निराकार होने की बात की जाती है, जो एकमात्र सत्ता है, अनंत और अद्वितीय है । इन बिंदुओं को संत कवियों ने अपनी कविताओं में प्रतिपादित किया है ।

सभी संत कवियों ने निर्गुण भक्ति की उपासना की है, जो अद्वैतवाद की विशेषताओं में से एक है । महान संत कवि रविदास या रैदास का यह दोहा भी इसका प्रमाण है–

जो खुदा पच्छिम बसै तौ पूरब बसत है राम
रैदास सेवों जिह ठाकुर कूं तिह का ठांव न नाम।।[५]

कवि उस ईश्वर की आराधना करता है, जो सर्वव्यापक है, जिनका ना कोई निवास स्थान है, ना ही इनका कोई नाम है ।

संत कबीर ने भी ईश्वर के निर्गुण होने की बात अपने दोहे के माध्यम से व्यक्त की है । इनका मानना है कि ईश्वर का ना कोई मुख है, ना उनका कोई रूप और स्वरूप है–

जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त अनूप।।[iii]

निर्गुण भक्ति संत कविताओं में अद्वैतवाद दार्शनिक मत के आधार बिंदुओं में से आत्मा एवं जीव के एक होने का भाव व्यापक रूप से देखने को मिलता है । यह अपनेआप कविताओं में सामाजिक समत्व एवं बंधुत्व के महत्वपूर्ण विमर्श को भी रेखांकित करता है । अद्वैतवाद के दार्शनिक मत से प्रेरित संत कवियों ने ब्रह्म को सृष्टि निर्माता के रूप में माना एवं यह विशेष रूप से दर्शाया कि जीव और आत्मा एक ही तत्व हैं । फलस्वरूप यह समाज में जाति–पांति का विरोध भी कर रहा है एवं इसके साथ–साथ जो समाज में व्याप्त कुरीतियाँ एवं रूढ़ियाँ हैं, उनको भी नकारकर समाज सुधारने की चेष्टा कर रहा है । समन्वयवादी और मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रेरित संत कवि कबीर खूब कहते हैं–

जाति पाति पूछे नहीं कोई।
हरि को भजै सो हरि कौ होई।।[iii]

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि आठवीं शताब्दी के दार्शनिक शंकराचार्य के अद्वैत्वाद मत ने अपने साहित्यिक उत्थान को निर्गुण भक्ति संत कवियों की रचनाओं में पाया तथा इसके साथ–साथ समाजवादी एवं कल्याणकारी दृष्टिकोण को अपनाया। जहाँ–जहाँ जीव एवं आत्मा के बीच अभेद्य की बात की जाती है, वहाँ किसी के उच्च–नीच होने का प्रश्न भी नहीं खड़ा किया जा सकता है । हिंदी साहित्य में भक्ति काल की निर्गुण ज्ञानाश्रयी संत कविताओं का अनोखा स्थान है । इन कविताओं ने न केवल हिंदी साहित्य को एक नई उच्च कोटि पर पहुँचाया है, बल्कि अपने दार्शनिक आधार के साथ–साथ जनता की मानसिकता को उन्मुक्त करने एवं सुधारने हेतु प्रेरित किया, जो कि साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य है ।

निष्कर्ष

मनुष्य अपने अस्तित्व के आदिकाल से लेकर सत्य की खोज में ऐसे विचारों को प्रकट करता है, जिन्हें हम दर्शन में ही समाहित करते हैं । उन्हीं दार्शनिक मतों को सृजनात्मक रूप से कवियों, लेखकों ने

साहित्य के माध्यम से प्रसारित किया है । साहित्य एवं दर्शन आपस में मज़बूती से जुड़े हुए हैं । साहित्य में समाज एवं जनता के जीवन का हर अंग प्रतिबिंबित होता हैं ।

भारतीय अद्वैत दर्शन एवं हिन्दू सनातन धर्म की पुनर्स्थापना में आदि शंकराचार्य का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने अद्वैतवाद दार्शनिक मत को प्रतिपादित करके लोगों के ध्यान को इस दिशा में केंद्रित किया कि ज्ञान के माध्यम से जीव ईश्वर में विलीन हो सकता है । शंकराचार्य के जीव और आत्मा के एक होने के सिद्धांत ने यह दर्शाया कि जीव को ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है और इसके लिए ज्ञान एवं विद्या की आवश्यकता है । इस सिद्धांत को मध्यकाल की निर्गुण भक्ति धारा के ज्ञानाश्रयी संत कवियों ने सृजनात्मक ढंग से अपनी रचनाओं में प्रतिपादित करके जनता को ईश्वर की ओर लाने एवं जाति–पांति जैसे कुरीतियों को समाज से दूर करने का सर्वोत्तम प्रयास किया है ।

अद्वैत दर्शन एवं इससे प्रभावित निर्गुण संत साहित्य ने मनुष्य के चित्त को उन्मुक्त कर समाज को एक नूतन सोच और आराध्य प्रदान किया है ।

संदर्भ:

[i] . विश्वकुमार मिश्र, भक्तिकाव्य और लोकजीवन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृ. 26–27

[ii] . रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009, पृ. 39

[iii] . विद्यासागर उपाध्याय, आदि शंकराचार्य: विराट व्यक्तित्व एवं अद्वैत दर्शन, बुक्सक्लिनिक पब्लिशिंग, छत्तीसगढ़, इंडिया, 2023, पृ. Xii

[iv] . हरिमोहन प्रसाद, महान संत कवि, होमेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 39

[v] . रामकिशोर शर्मा, कबीर ग्रंथावली (सटीक), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ . 202

[vi] . विजय कुमार त्रिशरण, महाकवि रविदास समाज चेतना के अग्रदूत, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, 2008, पृ. 86

[vii] . प्रदीप प्रताप, भक्ति कालीन काव्य परंपरा, अभय पब्लिकेशन, दिल्ली, 2015, पृ. 34

[viii] . प्रदीप प्रताप, भक्ति कालीन काव्य परंपरा, अभय पब्लिकेशन, दिल्ली, 2015, पृ. 11